पोस्टर: सहमत कहीं रामदास कहीं फते मुहम्मद, यही कदीमी शोर।
मुसलमान चिता से चिढ़ते, हिन्दू चिढ़ते गोर।
खत्म हुए सब झगड़े रगड़े, निकल पड़ा कोई और। -बुल्ले शाह

अगर मैं "भारतीय हिंदू होता" तो...

जफ़र अंजुम

अगर मैं "एक आम भारतीय हिंदू" होता तो मेरे लिए ये मानना कत्तई मुश्किल नहीं होता कि हमारे देश को आज इस्लामी आतंकवाद से खतरा है- फिर चाहे मुसलमान अपने बचाव में कुछ भी कहें। इसके साथ मैं यह भी कहना चाहूंगा कि मुसलमानों और ईसाइयों को खौफ़ज़दा रखना भारत की प्रगति पर गंभीर प्रभाव छोड़ रहा है, खासतौर पर जब भारत विश्वमंच पर एक महाशक्ति के रूप में खुद को चिन्हित करने में जुटा है। ये सब मैं इसलिए कह रहा हूं क्योंकि हाल ही में हुए आतंकवादी हमलों ने हमारे जीवन को बदल दिया है। अब हम सफर या यात्रा करते हुए बम से उड़ाए जाने के खौफ़ में जीते हैं। और फिर हम मुसलमानों पर दोषारोपण कैसे न करें जबकि उनके समुदाय के सदस्यों ने अमन पसंद हिंदू राष्ट्र में दहशतगर्दी का माहौल बना दिया है?

मैं जानता हूं कि मैं क्या कह रहा हूं, मैं अखबार पढ़ता हूं, टीवी देखता हूं। मैं कोई देहाती नहीं हूं। मैं एक सरकारी मुलाज़िम, व्यवसायी, आईटी इंजीनियर कोई भी हो सकता हूं- कोई भी।

मैं जब "आम भारतीय हिंदू" की बात करता हूं तो इसमें उदारवादी (या वामपंथी या नास्तिक आदि) शामिल नहीं हैं। न ही इसमें वे शामिल हैं जो विदेशों में शिक्षित हैं या जो अपनी हिंदू पहचान के प्रति सजग हैं। हमारे कुछ उदारवादी साथी इस 'भारतीय हिंदू' जुमले पर ऐतराज़ भी उठाएंगे- कहेंगे ये विरोधाभास लिए दोहरापन है- एक भारतीय सिर्फ़ भारतीय होता है, बस बात खत्म। मेरे लिए 'हिंदू भारत' का सदस्य होने के नाते इस बात पर गौरांवित होने का अच्छा मौका है जब भारत हज़ारों वर्ष की गुलामी ओर जड़ता का तन्द्रा तोड़कर हत्यारे, मुसलमान,

आक्रमणकारी शासकों और दबंग अंग्रेज़ों की हुकूमत से आज़ाद हुआ है।

पर मेरी इस खुशी पर ग्रहण लगाने वाले बहुत लोग मिल जायेंगे। उदाहरण के लिए हाल ही के आतंकवादी हमलों और उन पर मुसलमानों की प्रतिक्रिया की अगर हम बात करें तो मुझे चुप ही रहना पड़ेगा।

अगर मैं एक "आम भारतीय हिंदू" होता तो मुझे लगता कि बाटला हाउस में पुलिस की रेड, जामिया नगर के एनकाउंटर के मामले पूरी तरह वैध थे। जब महाराष्ट्र गुजरात व दिल्ली के आतंकवादी बम धमाकों में हज़ारों बेगुनाह लोग मारे जाते हैं तो क्या फ़र्क़ पड़ता है अगर दिल्ली पुलिस ने एनकाउंटर में दो मुसलमान आतंकवादी मार गिराये? कुछ मुसलमान इस पूरे मामले में पुलिस के रवैये को दोषपूर्ण मान रहे हैं। पर मैं इसकी परवाह नहीं करता। मेरी अपनी समस्याएं हैं जिनको सुलझाना है, अपनी ज़िंदगी की चिंता करनी है। पर अगर मुझे इस मामले से कुछ लेना-देना होता, अगर मैं टीवी या अखबार पर खबरें देखने-सुनने वाला शख्स होता तो मैं भी जामिया शिक्षक एकजुटता समूह या दिल्ली पत्रकार संघ की इस पूरे मामले की दोबारा जांच कराये जाने की मांग को, गैर ज़रूरी मानकर उसे अल्पसंख्यकों की मिजाज़पुर्सी के लिए उठाये कदम के रूप में देखता।

मैं पूछता हूं कि हम अपनी पुलिस को अनैतिक क्यों ठहराएं? आखिर हमने भी तो इस पूरे वाकये में अपने एक जांबाज़ सिपाही को शहीद होते देखा है। मैं इन तमाम शक्की लोगों द्वारा लगाये साज़िश के इल्ज़ामों को बेबुनियाद करार देता। जब भीड़ से भरे बाज़ारों में मासूम लोग मारे जाते हैं तब ये लोग खामोश रहते हैं या झूठे आंसू बहाते हैं। पर जब इनमें से कोई एक मारा जाता है तो ये जांच और आतंकवादियों को कानूनी सहायता देने की मांगें उठाते हैं। ये तो देशभक्ति-विरोधी रवैया है।

पर इस काम में वे अकेले नहीं हैं। मुस्लिम बुद्धिजीवियों व पब्लिसिटी के भूखे उदारवादी मीडिया कर्मियों के साथ उदारवादी होने का ढोंग रचने वाले कुछ धर्म-निरपेक्ष व्यक्ति भी हैं। ये वही व्यवहार करते हैं जो इन्होंने गुजरात के दंगों के बाद किया था- वे इस सच को नहीं समझ पाए कि गुजरात मे जो भी हुआ वह साबरमती एक्सप्रेस में हमारे ज़िंदा धर्म गुरूओं को जलाए जाने के विरोध में उठने वाली सामान्य प्रतिक्रिया मात्र थी। और फिर तमाम जांच-पड़ताल करने के बाद उन्हें क्या हासिल हुआ? केवल नरेंद्र मोदी भाई की अमरीका यात्रा रोकने में वे सफल रहे बाकी कुछ भी नहीं। फिर इन गड़े मुर्दों को उखाड़ने से क्या फायदा?

लिहाज़ा यह स्पष्ट है कि अगर मैं "साधारण भारतीय हिंदू" होता तो इस्लामी आंतकवादी से हिंदुत्व को पहुंचने वाले खतरे को बेहिचक स्वीकार कर लेता। इस सोच के चलते यह भी जायज़ था कि मैं यह विश्वास करता कि विभाजन के बाद भारतीय मुसलमानों ने देश से मिले सभी अवसरों को नष्ट कर दिया है। वे केवल विशेष सुविधाएं मांगते रहे हैं और सैकड़ों अन्य हितैषी उनकी इन मांगों की पैरवी करते रहे हैं। तो सभी साथी हिन्दुओं के लिए मेरा संदेश केवल यही है- हमने इन लोगों के लिए बहुत कुछ कर दिया है और इन्होंने इससे लाभ नहीं उठाया है। तो अब हमें भी इनकी परवाह करनी बंद कर देनी चाहिए।

हमारे शांतिपूर्ण स्वभाव के कारण सदियों से दूसरों ने हमें दबाया है। वे ऐसा कर पाये क्योंकि हम कमज़ोर थे। पर अब हमें पलटकर वार करना होगा और साबित करना होगा कि हम अधिक आक्रामक हैं। हमने गुजरात में ये कर दिखाया है और देश के कुछ अन्य हिस्सों में भी। पर ये मुसलमान हैं कि सबक लेते ही नहीं हैं।

अगर मैं एक "साधारण भारतीय हिन्दू" होता तो ऊपर कही सभी बातों पर विश्वास करने में मुझे बिल्कुल दिक्कत नहीं होती। पर सच तो यह कि मैं "साधारण भारतीय हिन्दू" नहीं हूं।

मैं एक भारतीय हूं जिसने एक मुस्लिम परिवार में जन्म लिया है। और इसलिए मेरी चेतना की परवरिश एक अलग माहौल में हुई- दूसरे समुदायों के लोगों से अलग।

इस फ़र्क़ के बावजूद मैं अपने "साधारण भारतीय हिन्दू" साथी को उसकी इस सोच के लिए दोषी नहीं ठहरा सकता। दोष तो मेरी नज़र का है जो उसे कटघरे में खड़ा कर देती है। हो सकता है कि उसकी परवरिश उस माहौल में हुई हो जहां मेरी तरह उसे विविधता में एकता की सीख न दी गई हो। वह किसी अन्य फलसफे में विश्वास रखता हो। उसके भारत की कल्पना गांधी

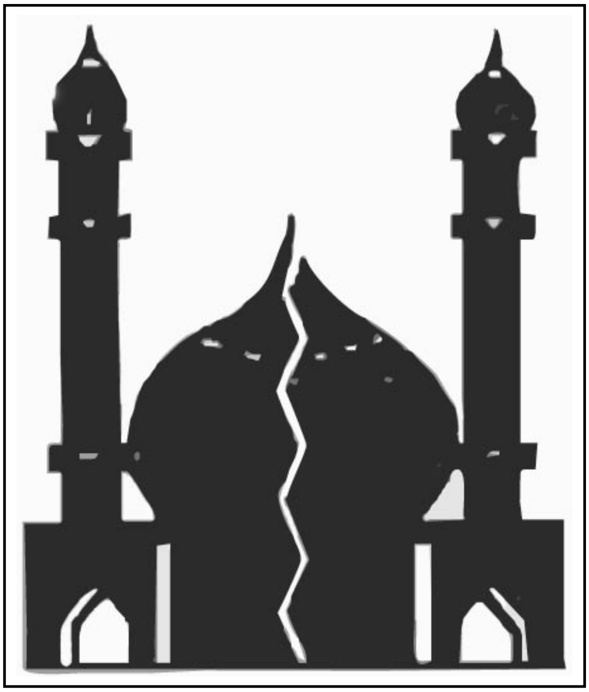

चित्र: अगेंस्ट ऑल ऑड्स पुस्तक से साभार

व नेहरू की कल्पना से भिन्न हो सकती है, या फिर उतनी ही पुरानी और उनके जैसी जिन्होंने गांधीजी का कत्ल होने पर सड़कों पर मिठाई बांटी थी। हो सकता है उसकी नज़र में गांधी व नेहरू आदर के पात्र न हों। जिस तरह मेरे स्वतंत्रता को लेकर कुछ निश्चित विचार हैं उसी तरह उसके दिल में भारत की आज़ादी की कोई अन्य तस्वीर हो सकती है। बचपन से ही उसे एक निर्धारित विचारधारा का पाठ पढ़ाया गया है जो शिशु मंदिर, शाखा, एकल, विद्यालयों, संत-समागम, रथ यात्रा, पर्चियों, वीडियो व सीडी में कैद है।

इसलिए मैं अपने "साधारण भारतीय हिन्दू" साथी पर कोई इल्ज़ाम नहीं लगाना चाहता क्योंकि वह किसी अन्य की मेहनत का सृजन है, ठीक उसी तरह जैसे मैं किसी और की रचना हूं। वह भी एक जायज़ भारतीय है हालांकि भारत को लेकर उसके विचार अलग हैं। पर जो बात अहमियत रखती है व जो हमारा भविष्य निर्धारित करेगी वह है हमारा आज, कि भारत के लिए कौन सी कल्पना व विचार सही रहेंगे और उसे प्रगति की ओर ले जाएंगे। हर भारतीय की ज़िम्मेदारी है कि वह इस कल को संवारने के लिए कदम उठाए।

मेरा भारत विविधता, अनेकता व समिश्रण के विचारों पर खड़ा है- वे विचार जो साम्प्रदायिक विचारधारा से अलग हैं। मेरे मस्तिष्क में भारत को परिभाषित करने वाली छवि है भीड़ की और इस भीड़ का स्वरूप बहुतायत, पंचमेल और मिलाजुला है। बचपन से ही मैं नेहरू और गांधी के विचारों का अनुयायी हूं। स्कूल में मैंने धर्मनिरपेक्ष भारत, जो साझी विरासत की नींव पर टिका है, के पाठ पढ़े हैं। यहां सभी नागरिक व धर्म समान है। हमने गांधी-नेहरू के बड़प्पन पर निबंध रचे तो वहीं इंदिरा गांधी ने मज़बूती से देश की बागडोर संभाली। वे आपातकाल-पूर्व दिन थे जहां हमें सब कुछ सामान्य लगता था। और मैं *"हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई आपस में सब भाई-भाई"* दोहराता और इस पर अटल विश्वास बनाये आगे बढ़ता चला गया।

बड़े होते-होते मैं जानता था कि मैं ऐसे देश का वासी हूं जहां अधिकांश जनसंख्या हिन्दू है। पर इससे मुझे कोई परेशानी नहीं थी बल्कि मैं इस विविधता को पसंद करता था। मेरे अब्बा के खास दोस्त हिन्दू थे। मैं ईद की तरह ही दुर्गा पूजा और छठ का इंतज़ार करता था। इन दोनों संस्कृतियों के बीच मैं पला था। दुर्गा पूजा के समय पंडालों/सड़कों पर घूमना-फिरना हमारे लिए आम बात थी। ठीक उसी तरह छठ का ठेकुआ और ईद की सेवईयां मुंह में पानी ला देती थीं। दिसम्बर में मैं क्रिसमस से सजे हुए गिरजे देखता और केक-पेस्ट्री का दोस्तों के घर आनंन्द उठाता।

फिर 1984 आया, इंदिरा गांधी का कत्ल हुआ और दिल्ली में सिखों का कत्लेआम। हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई के भाईचारे के नारे झूठे और बेमानी लगने लगे। स्कूल से निकलकर मैं अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में पढ़ने गया जहां मैंने बाबरी मस्जिद विध्वंस होने व उसके बाद हुए साम्प्रदायिक दंगों को देखा। देश का माहौल इस समय तक पूरी तरह बदल चुका था।

गंगा-जमनी तहज़ीब का अंत

पर बदलाव का ये दौर बाबरी मस्जिद विध्वंस से पहले ही शुरू हो चुका था। भारत की गंगा-जमनी तहज़ीब व धर्म-निरपेक्षता लुप्त होती जा रही थी। सार्वजनिक जीवन से मुस्लिम सांस्कृतिक तत्व जो चाहे छुट-पुट ही सही पर उनकी अहमियत थी, धीरे-धीरे गायब होने लगे थे। उदाहरण के लिए "एकता व विविधता" के राष्ट्र एकजुटता

के नारे जो दीवारों व बसों के पीछे उर्दू में लिखे नज़र आते थे अब कम ही दिखाई पड़ते थे। इनकी जगह दूसरे नारों ने ले ली- "भारत देश में रहना है तो 'वंदे मात्रम' कहना होगा।" कुछ मुसलमानों ने भी "फक्र से कहो हम मुसलमान हैं" के स्टीकर निकाले और हिन्दू संस्थानों ने "गर्व से कहो हम हिन्दू हैं" की पर्चियां बांटी।

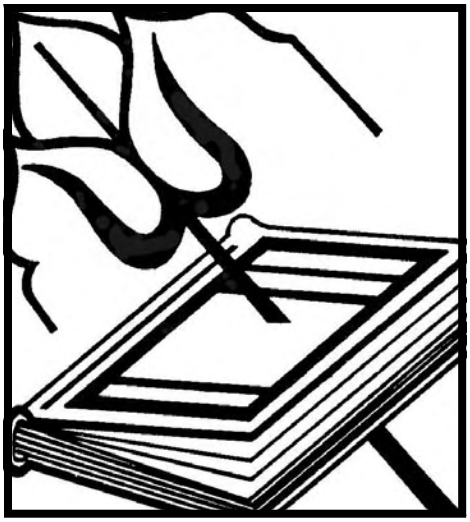
चित्र: अगेंस्ट ऑल ऑड्स पुस्तक से साभार

मुगलई खान-पान कहां गए?

नारेबाज़ी के साथ-साथ दो और मुख्य बातें सामने आईं भारतीय मुस्लिम विरासत की विधिवत सफाई तथा हिन्दी सिनेमा का भारतीय सांस्कृतिक परिवेश पर पूर्ण रूप से कब्ज़ा। हालांकि मुगलिया तथा पूर्व मुगलिया विरासतें जैसे लाल किला, ताजमहल व कुतुबमीनार का स्वरूप कायम रहा, पर भारतीय भोजन के मानचित्र से मुगलई खान-पान गायब हो गये। इनकी जगह पंजाबी व तंदूरी खाने ने ले ली। इसका अर्थ यह नहीं कि पंजाबी खान-पान महत्वपूर्ण नहीं है बल्कि यह कि मुगलई खाने का पूर्णतः लुप्त हो जाना हैरतंगेज़ लगा। ऐसा नहीं कि किसी ने इस काम को जान बूझकर अंजाम दिया परन्तु यह माहौल का प्रभाव था कि होटलों के खाने की फ़ेहरिस्त में अब उत्तर-भारतीय व दक्षिण-भारतीय व्यंजन ही शामिल होने लगे। लिहाज़ा मेरा सवाल वही रहा, मुगलई भोजन विधा कहां खो गई? और इस लुप्तता को भारतीय इतिहास के साम्प्रदायिक माहौल में रंगकर देखा जाए तो इसका महत्व स्पष्ट रूप से उभरकर सामने दिखाई देता है।

मुसलमान बनाम 'मुगल' गज़ल या गजल?

इस बात को समझाने के लिए मैं एक किस्सा सुनाता हूं। लंदन की एक गोष्ठी के दौरान जहां भारत के नामचीन लेखक व इतिहासकार आमंत्रित थे, वहां मशहूर लेखक सलमान रश्दी भी थे। रश्दी ने इस गोष्ठी के अनुभव अपनी एक पुस्तक में लिखे हैं- *एक हिन्दुस्तानी अकादमिक ने वहां भारतीय संस्कृति पर भाषण दिया जिसमें अल्पसंख्यकों का ज़िक्र तक नहीं था। जब किसी ने इस बात पर सवाल उठाया तो प्रोफेसर ने मुस्कराते हुए जबाब दिया कि भारत में विविध परम्पराएं हैं जिनमें बौद्ध, ईसाई और 'मुगल' शामिल हैं। मुस्लिम संस्कृति की यह 'विशेष' पहचान हमें केवल अजीब ही नहीं लगी। यह अलगाववादी तकनीक थी। अगर मुसलमान 'मुगल' थे तो फिर वे विदेशी हमलावारों की श्रेणी में आते थे और इस लिहाज़ से मुस्लिम संस्कृति उपनिवेशी व नकली हुई। उस समय तो सबने उस बात को मज़ाक में टाल दिया पर मेरे अंदर ये बात कांटे की तरह चुभती रही।*

इस अनुभव के आधार पर ये मानना असंभव नहीं होगा कि मुसलमान मुगलई खान-पान के भारतीय सूची में से गायब होने को एक सिलसिलेवार अलगाववादी कार्यवाई के रूप में देखते हैं।

कुछ इसी तरह का हश्र 'चंद्रबिन्दु' का भी हुआ है जो देवनागरी लिपि से नदारद हो गई है। चंद्रबिन्दु उर्दू और हिन्दी भाषा का एक साझा चिन्ह था और इसके लुप्त होने के साथ-साथ इन दोनों ज़बानों के बीच के संबंध भी साम्प्रदायकिता की वेदी पर होम हो गये। नतीजा अनर्थकारी रहा। आज टीवी पर व्यंजन बनाने वाले 'शेफ़' 'ज़ीरे' को 'जीरा' कहते हैं और साहित्य के छात्र 'ये क्या गालिब की गज़ल है' बेहिचक होकर पूछते हैं। भाषा की यह अशुद्धता मेरे कानों को चीर देती है। पर दिलचस्प बात तो यह है कि उर्दू न जानने वाले मुसलमान भी इन अल्फाज़ों को इस अशुद्धता के साथ ही बोलते हैं।

बॉलीवुड, तुम भी?

अलगाववाद की इस तकनीक ने भारत की सबसे धर्म निरपेक्ष जगहों-टीवी और बॉलीवुड को भी अपनी गिरफ्त में ले लिया है। ये जगहें महज सांस्कृतिक रूप से अहम नहीं हैं बल्कि ये एक संस्कृति-पीढ़ी की प्रभावशाली मिसालें भी हैं। 1990 के बाद बालीवुड की फ़िल्मों का स्तर बेहतर हो चला है और ये देश के सांस्कृतिक कार्यसूची को परिभाषित

करने लगी हैं। फ़िल्मों का हिन्दू मुसलमान दोनों पर पर्दे के भीतर व बाहर समान प्रभाव होता है और अमरीकी अकादमिक मार्था नुस्बाम के शब्दों में *बॉलीवुड एक ऐसी जगह है जहां हिन्दू मुसलमान आपस में घुलते-मिलते व विवाह करते हैं और यहां दोनों के बीच में कोई खाई मौजूद नहीं है।*

पर बॉलीवुड के मुसलमान समाज के दिग्गजों के गुज़र जाने के बाद फ़िल्मकारों ने मुसलमान किरदारों से अपना मुंह फेर लिया है। ज़रा सोचकर बताइए, मनमोहन देसाई की मृत्यु के बाद आपने फ़िल्मों में कितने मुख्य मुस्लिम चरित्र देखे हैं?

टीवी का हाल तो और भी दयनीय है। कम बजट वाले एक-आध कार्यक्रम जैसे *अलिफ-लैला* के अलावा *सास भी कभी बहू थी* और *कहानी घर-घर की* के दौर में शायद ही कोई मुसलमान किरदार मुख्यधारा में दिखाई देते हों। ऐसा प्रतीत होता है कि वे भारत के सामाजिक ढांचे का हिस्सा हैं ही नहीं, जो कि सच्चाई से परे नहीं है।

इसके साथ-साथ फ़िल्मों से उर्दू भाषा के शीर्षक या शुरूआत में आने वाले नाम भी लगभग पिछले दस-पंद्रह वर्षों में खो ही गये हैं। पर खुशी यह है कि सभी फ़िल्म निर्माता इस बात को नहीं भूले हैं, जैसे श्याम बेनेगल की हाल की फ़िल्म *वेल्कम टू सज्जनपुर* में उर्दू शीर्षक फ़िल्म की शुरूआत में डाले गये हैं।

मैं मानता हूं कि ये बड़े मुद्दे नहीं हैं, फिरकापरस्ती और आतंकवाद जैसे मुद्दों के सामने ये कहां टिकेंगे?

मेरा "साधारण भारतीय हिन्दू" साथी शायद मुझसे यह पूछे कि इन छोटी-मोटी, गैर ज़रूरी बातों से भारतीय मुस्लिम ज़ेहन पर क्या प्रभाव पड़ेगा? तो मेरा जबाब होगा- बहुत महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ेगा। ये छुट-पुट मुद्दे ज़रूर हो सकते हैं परन्तु ये मनोवैज्ञानिक प्रतीक के रूप में अपना असर दिखाते हैं- ये देश में हमारी मौजूदगी, भागीदारी, शिरकत के प्रतीक हैं। पर ये प्रतीक यादगार प्रमाण कैसे और कब सार्वजनिक चेतना से मिट गये हमें पता ही नहीं चला। मेरा बस चलता तो इन संकेतों और चिन्हों को खोने ही नहीं देता।

मुझे मौलाना अबुल कलाम आज़ाद की 1946 की तकरीर याद आती है जो उन्होंने मुस्लिम लीग के लाहौर प्रस्ताव के प्रत्युत्तर के रूप में जारी की थी, *आइए हम इस बात पर गौर करें कि पाकिस्तान स्कीम पर अमल करने का नतीजा क्या होगा। भारत दो देशों में बंट जाएगा, मुस्लिम बहुसंख्यक व हिन्दू बहुसंख्यक। हिन्दू राष्ट्र में साढ़े तीन करोड़ मुसलमान छुट-पुट रूप से बसे रहेंगे। वे आज से अधिक असशक्त महसूस करेंगे। उन्होंने इस क्षेत्र को हज़ारों वर्षों से अपना घर समझा है, यहां मुस्लिम तहज़ीब और संस्कृति के मीनार स्थापित किए है। रातों रात में ये सब विदेशी व अजनबी प्रतीत होने लगेगा। औद्योगिक, शैक्षिक व आर्थिक रूप से पिछड़े ये एक हिन्दू राज के रहमो-करम पर जीने को मजबूर हो जाएंगे।*

मौलाना ने आधी सदी पूर्व ये आने वाला कल देख लिया था। आज़ादी के बाद साम्प्रदायिक तनाव, वोट बैंक की राजनीति और मध्य वर्ग की गहराती कट्टरता के चलते मौलाना के मन के डर सच हो रहे हैं। आज मुसलमान हर स्तर पर पिछड़े हैं, उनकी स्थिति काफी खराब है, दलितों से भी पीछे।

पर सरकार को पचास वर्षों से दोषी ठहराकर समुदाय आगे नहीं बढ़ पाया है। जैसा कि हाल ही में उपराष्ट्रपति श्री हामिद अंसारी ने अपने वक्तव्य में कहा, *हालांकि हमारे शिकवे जायज़ थे परन्तु उनको इतना भी खींचना नहीं चाहिए था कि हम स्वायत्त कार्यवाई भी करने में असमर्थ रहें। हमने दूसरे समुदायों द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में सरकारी संस्थानों से स्वतंत्र होकर शुरू की गई अगुवाइयों को समझने और उन्हें अपने जीवन में उतारने में असफल रहे हैं।*

यह कहना सही होगा कि मुस्लिम साम्प्रदायिकता, हिन्दू फिरकापरस्ती को मज़बूती प्रदान कर रही है। यह अच्छा है कि काफी मुसलमानों ने अपने साम्प्रदायिक नेतृत्व को दरकिनार कर दिया है परन्तु उन्हें धर्म निरपेक्ष नेतृत्व से सहयोग नहीं मिल पाया है। वे आज भी भारतीय वोट बैंक की राजनीति के मोहरे बनकर रह गये हैं जिनका कोई सरमाया नहीं है।

पर हालात को ऐसे ही नहीं छोड़ा जा सकता। ये स्थिति बदलनी ही चाहिए। मुसलमानों को चाहिए कि वे हिन्दू भावनाओं, संस्कृति, धर्म का सम्मान करें तथा इस्लाम व हिन्दू धर्म के साझे मूल्यों को सहेज कर रखें। अलगाववादी रवैया या मेरा मज़हब तुम्हारे धर्म से बेहतर है सोच से

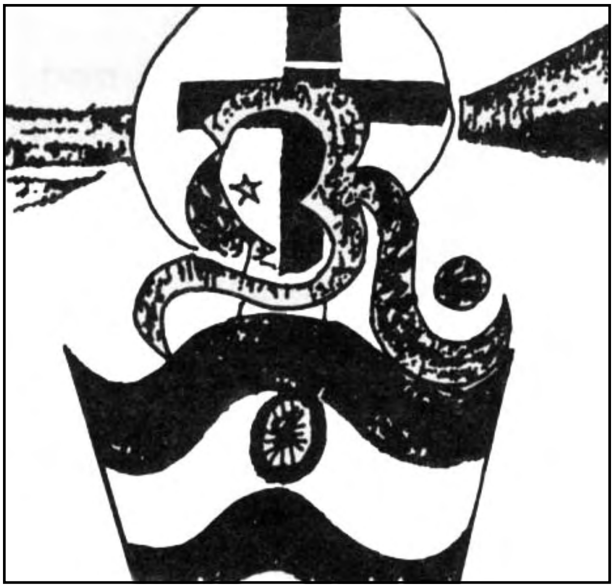

चित्र: अगेंस्ट ऑल ऑड्स पुस्तक से साभार

काम नहीं चलेगा। दोनों समुदायों के सदस्यों को समान स्तर पर मिलना होगा।

इसके अतिरिक्त भारतीय मुसलमानों को आतंकवाद के इल्ज़ाम का सामना करना होगा। जैसा कि वीर सांघवी लिखते हैं, *आतंकवाद को हिन्दू-मुसलमानों के बीच की खाई को बढ़ाने का मौका नहीं देना चाहिए। इससे बचने की कुछ ज़िम्मेदारी मुस्लिम समुदाय की भी है। मेरे अनुसार वे ठीक उसी तरह की प्रतिक्रिया कर रहे हैं जैसी सिखों ने 1980 में की थी। इंकार करने से कोई फायदा नहीं होगा। मैं जानता हूं कि आतंकी हमलों में पकड़े गये कुछ लोग मासूम होंगे पर सभी बेगुनाह होंगे यह संभव नहीं है।*

सांघवी की बात में सच्चाई है। कोई यह नहीं कह रहा कि मुस्लिम समुदाय के दोषियों के साथ, अन्य समुदाय के आरोपियों से कुछ अलग व्यवहार किया जाना चाहिए। परन्तु कुछ लोगों की गलती के लिए पूरे समुदाय को इल्ज़ाम देना गलत है। क्या हम बिना सबूत के लोगों को यातना देते रहेंगे चूंकि वे किसी एक मज़हब के हैं? अगर इस प्रक्रिया को रोका नहीं गया तो भारत को फांसीवादी राज्य में तब्दील होने में समय नहीं लगेगा।

नैतिक मूल्यों वाला नेतृत्व कहां है?

हिन्दू व मुस्लिम समुदाय को पुलिस व सरकार से पूछना होगा- नैतिक मूल्यों वाला नेतृत्व कहां है? नेताओं को चाहिए कि वे नैतिक नेतृत्व प्रदान करें और वोट बैंकों की चिन्ता करना छोड़ें। दिल्ली के साम्प्रदायिक दंगों व कत्लेआम के बाद गांधीजी ने हिंसा रोकने के लिए भूख हड़ताल की। हालांकि आज हम नेताओं से इसकी उम्मीद तो नहीं कर सकते परन्तु नैतिक मूल्यों का पालन करने की अपेक्षा तो कर ही सकते हैं।

हमें इस सच को भी स्वीकारना होगा कि बड़ी तादाद में भारतीय हिन्दूओं ने अल्पसंख्यकों के प्रति सौहार्द की भावना रखी है। मुसलमानों को यह मानना होगा कि हिन्दू उनके अच्छे दोस्त रहे हैं। दोनों की पांच हज़ार वर्ष पुरानी साझी संस्कृति है। दोनों ने साथ मिलकर साम्प्रदायिक तत्वों को नकारा है। ऐसा करके ही हम साम्प्रदायिक नफ़रत को हमेशा के लिए दफ़न कर सकते हैं।

पर क्या ये सब करना आसान होगा? शायद नहीं, परन्तु शुरूआत तो करनी ही होगी। सब धर्मों के लोगों से दोस्ती करना एक अच्छा आगाज़ हो सकता है। साथ ही सभी भारतीयों को नागरिक जीवन में विवेकपूर्ण व्यवहार करना होगा- अवैध जानकारी, अफ़वाहों से बचकर एक दूसरे को समझना होगा। इसके साथ भारतीय मध्यम वर्ग को अपनी ज़िम्मेदारी उठाकर गैर राजनीतिक व बेरूखी का रवैया छोड़ना होगा। उन्हें मानवीय मूल्यों को पुनः आत्मसात करना होगा। अगर वे चाहते हैं कि भारत एशिया में अपनी सुरक्षित और मज़बूत जगह बनाए तो हम खामोश और गैर राजनीतिक बनकर नहीं रह सकते।